

मध्यकालीन संतों के काव्यों में सामाजिक चेतना का अध्ययन (राजस्थान के सन्तों के सन्दर्भ में)



अरविन्द सिंह चौहान
शोधार्थी
हिन्दी विभाग,
सम्राट पृथ्वीराज चौहान
राजकीय महविद्यालय,
अजमेर,
म.द.स.वि.वि. अजमेर,
राजस्थान

सारांश

किसी भी साहित्य के महत्व का आंकलन दो दृष्टियों से किया जाना चाहिए :-

1. साहित्यिक सौन्दर्य और गरिमा की दृष्टि से।
2. प्रभाव की दृष्टि से।

जो साहित्य इन दोनों गुणों से परिपूर्ण हो उसे तो सर्वोच्चतम साहित्य मानना चाहिएँ। वह सोने में सुहागा-कहावत को चरितार्थ करने वाला होता है। प्रभाव तथा गरिमा की दृष्टि से संत काव्य का महत्व भक्तियुगीन साहित्य में तुलसी के समकक्ष कहा जा सकता है। समाज पर संत साहित्य का जो प्रभाव रहा, वैसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। जनवाणी में अपने अनगढ़ शब्दों में तथा लोकानुभूति के आधार पर समाज सुधार का कार्य करते हुये भक्ति का मार्ग प्रशस्त करने के कारण सन्त कवि सच्चे भक्त, महात्मा और उपदेशक कहलाये।

मुख्य शब्द : संत काव्य, भक्तियुगीन साहित्य।

प्रस्तावना

सन्तों ने अपनी व्यक्तिगत साधना की उच्च भावभूमि को छोड़कर समाज की निम्न से निम्न, उच्च से उच्च जाति का कल्याण करने हेतु एक क्रान्तिकारी तथा लोककल्याणकारी आन्दोलन उत्पन्न किया। सन्त कवियों की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी और विशिष्ट उपलब्धि यह रही कि उन्होंने पूर्व नाथ सिद्धों की भाँति लोकधर्म से पलायन न कर समाज के भीतर रहते हुये, दान भिक्षा त्यागकर जीविका हेतु कठिन साध्य किया और लोकमंगल का कार्य भी किया, उन्होंने स्वयं समाज के सुख-दुःख को भोगते हुए सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय का प्रबल प्रतिरोध किया। सन्त कवियों का व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में संवेदनशील था उनका मानस स्वच्छ और उदार था, इसीलिए उनका साहित्य जनभावनाओं की सहज प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों और विडम्बनाओं का एक विशाल शब्द चित्र है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण अंकित किया है। सन्त काव्य आत्मविश्वास, आशावाद और आस्था की भावना स्थापित करने में सहायक रहा, यह जीवन शक्ति का अक्षय स्रोत है। इस काव्य का मुख्य प्रयोजन यह है कि त्रस्त, सन्तप्त, उपेक्षित, उत्पीडित मानव को परिज्ञान प्रदान करना, जिसमें जीवन का स्वरूप, विश्लेषण और व्याख्या उपलब्ध होती है। इसमें युगबोध, युगचेतना तथा सामाजिक चेतना का अथाह सागर है। इनकी रचनाओं में मानव की क्षुद्रता, सीमाओं तथा स्वार्थ, असत्यप्रियता, संकीर्णता, अर्थ लोलुपता, कामुकता आदि का विवरण एवं विश्लेषण हुआ है।

इसी प्रकार सामाजिक असंगतियों, धार्मिक विडम्बनाओं, बहुदेववाद, मूर्तीभजन आदि समस्याओं की अभिव्यक्ति और उनका निदान भी सन्त काव्य में मिलता है। सन्देह नहीं है कि सन्त कवि अपने समय के समाज के सच्चे प्रहरी थे। सन्त सत्पथ के वीर आरोही थे। वे सत्य का अनुसरण करते हुये धर्म, परम्परा, शास्त्र, शासक तथा धर्म के ठेकेदारों आदि किसी की भी परवाह नहीं करते थे तथा समाज के सभी वर्गों को सम्मान देते हुये समाज में मानव मात्र की प्रतिष्ठा स्थापित करने का कार्य इन सन्त कवियों के द्वारा बखुबी किया गया। तत्कालीन परिस्थितियों (बाहरी आक्रमण तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण वर्ग द्वारा समाज के अन्य वर्ग पर अत्याचार) में, सभी जातियों धर्मों के मध्य भाईचारा पैदा करने के लिए सन्त कवि आगे आये, इन सन्त कवियों में न केवल राजा महाराजा लोग थे अपितु मोची, नाई, कसाई और जुलाए भी थे। सभी ने मिलकर ईश्वर की एकता और सर्वव्यापकता को स्थापित किया और मानव-मानव के बीच मुलभूत एकता और सौहार्द को निरूपित किया। सन्त कवियों की सामाजिक चेतना का एक

महत्वपूर्ण उदाहरण उनकी दलित विमर्श चेतना रही, उन्हें जाँति-पाँति के वे बन्धन जिनमें जकड़ी जाकर मानवता सिसकियां भर रही थी, बड़े ही अप्रिय प्रतित होते थे। अस्तु : उन सब की निन्दा सन्त साहित्य का प्रिय विषय भी रही। यही कारण हैं कि सन्त साहित्य का प्रभाव उन जातियों के मध्य अधिक रहा जो दीर्घकाल से दबी, दलित एवं पिछड़ी हुई थी और जिन्हें अन्त्यज की संज्ञा भी प्रदान की गई हैं। सन्तों ने अपनी साधना द्वारा जहां एक ओर व्यक्तिगत जीवन को उन्नत किया वहीं दूसरी ओर लोकजीवन को भी उदात्ता की ओर अग्रसर करने का पुण्य प्रयास किया। अन्त एवं बाह्य दोनों ही रूपों की पवित्रता और कथनी और करनी की एकरूपता सन्तों की जीवनयात्रा का प्रबल संबल थी। यह निर्विवाद है कि सन्तों ने अपने युग की आवश्यकता को समझा और बड़ी ही निष्ठा के साथ अपनी विमल वाणी के उद्घोष द्वारा जनजीवन में एक क्रान्ति उपस्थित की। धर्मान्धता, रूढियों का अन्धानुकरण, जातिगत भेदभाव, सम्प्रदाय कट्टरता आदि उन समस्त विखण्डनकारी प्रभावों के प्रति उन्होंने विद्रोह किया और उस व्यापक सत्य को, परमतत्व को प्राप्त करने का आग्रह किया जो सभी मानवों हेतु सम था। कविता करना सन्त कवियों का उद्देश्य नहीं था वरन् काव्य कर्म की अपेक्षा उपदेश इनका प्रधान ध्येय था, इसी हेतु सन्त कवियों ने अपने काव्यों की भाषा आम बोलचाल की भाषा को ही बनाया जिससे वे निम्न से निम्न, शिक्षित से अनपढ़ तक, समाज के सभी वर्ग तक अपनी वाणी को पहुंचा सकते थे। शब्द और उनके प्रयोग, समकालीन वातावरण अनुरूप शब्द भाषा— एक नवीन सामाजिक चेतना का विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। एकेश्वरवाद का नारा, मानव की प्रतिष्ठा, उदात्त गुणों की स्थापना, शुद्ध आचरण और नैतिकता, जीवन मूल्यों, सामाजिकता, सामाजिक असमानता, कुप्रथा विरोध, विश्वव्यापी मानवधर्म की स्थापना के साथ-साथ हिन्दू मुस्लिम भेद को मिटाना तथा प्रेम, सौहार्द, मधुरता, सहिष्णुता, भक्ति और “तन्त्र न जानु, मंत्र न जानु, जानु सुन्दर काया,” की स्थापना का आदर्श रूप समाज के समक्ष प्रस्तुत कर समाज को दीर्घकालीन नैतिक पतन से उभारकर उच्चता की सात्विकता की ओर अग्रसर करने का सराहनीय प्रयास इन संत कवियों ने किया। सामाजिक स्तर पर इन सन्तों ने पाखण्ड एवं अन्धविश्वासों का पूर्ण वीरता के साथ खण्डन किया, मिथ्या आडम्बरों के प्रति जैसी अनास्था इन सन्त कवियों ने व्यक्त की : वैसी न तो पहले कोई समाज सुधारक कर सका और न परवर्ती युग में किसी का साहस हो सका। इन सन्तों का एक बड़ा वर्ग निम्न जाति से सम्बन्धित रहा किन्तु आचरण शुद्धता और सत्य की वाणी का प्रभाव निम्न के साथ साथ उच्च वर्ग पर भी अत्याधिक रहा। सर्वजन सुलभ तथा समन्वयवादिता के कारण ही सन्त विचारों का प्रचार— प्रसार समाज के प्रत्येक स्तर पर हो सका तथा इनकी सामाजिक चेतना से तत्कालीन परिस्थितियों का परिवर्तन हुआ। मन, बुद्धि और आत्मा को समान रूप से रसान्वित कर एक विशेष प्रकार का आशान्वित जीवन इस साहित्य ने निम्न से उच्च तक प्रत्येक जन को प्रदान किया तथा समाज के किसी भी क्षेत्र को इससे अछूता न रखा। धर्म

तथा ईश्वर, भारत तथा भारतीयों हेतु अनिवार्य वस्तु तथा पवित्र आस्था का विषय रहे, प्राचीनकाल धर्म के ठेकेदार वर्ग ने धर्म के नाम पर जाँति-पाँति के पाखण्ड तथा धार्मिक भेदभाव उत्पन्न कर भारतीय समाज को युगों-युगों के लिए पतन के गर्त में धकेल दिया। प्राचीन सामाजिक ढांचे पर सर्वोप्रथम भारत तथा हिन्दी साहित्य में मध्यकालीन सन्त काव्यधारा के कवि तथा समाज सुधारकों ने प्रहार किया तथा धर्म के ऊपर चढ़ी इन आडम्बर की परतों को उखाड़ना प्रारम्भ किया। समाज ऐसा है (यथार्थ) तथा समाज ऐसा होना चाहिए (आदर्श) — की तर्ज पर सन्त काव्यधारा के कवियों ने सन्त हृदय की शील-सम्पन्नता एवं परदुःखकातरता से सभी प्राणियों को अपनी ओर खींचना प्रारम्भ कर दिया। सन्त सदैव स्वयं को महत्वहीन समझते तथा दूसरों को सदा सम्मानित करते — इसी में उन्हें आत्म संतोष का अनुभव होता। कामादि-विकार रहित, मनसा— वाचा-कर्मना प्रभु पर प्रीति रखने के कारण उन्हें समस्त प्राणियों में परमतत्व की अनुभूति होती। इस हेतु ही “वह सबका, और सब उसके बन जाते हैं” सभी में उसी परमतत्व का आभास तथा सबके लोकमंगल की कामना हेतु उनके हृदय में निरन्तर शांत एवं अमृत की धारा प्रवाहित होती रहती हैं।

सन्त शब्द से तात्पर्य अधिकांशतया यह समझा जाता है कि सन्त उस अलौकिक ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए लोकजीवन से दूर हटकर किसी पर्वत की कन्दरा या किसी पावन पयासिनी के तट पर बैठकर साधना करने में अधिक विश्वास रखते हैं। किन्तु पूर्व मध्यकालीन सन्त सामाजिक प्राणी रहे वें साधारण गृहस्थों की भाँति तथा समाज के मध्य रहकर ही अपनी दैनिकचर्या का सहज रूप से पालन करते हुये सामाजिक समरूपता— समरसता तथा मानव को मानवता का सन्देश सुनाते रहे। प्रत्येक सन्त ने अपनी साखी— शब्दों—पदों आदि के माध्यम से आत्मचिंतन प्रसूत भावों—विचारों एवं तथ्यों का प्रतिपादन किया, सन्त अपनी आत्मा के स्वर को दूसरों को भी सुनाना चाहते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि स्वानुभूति की भूमिका में प्रतिष्ठित होकर उन्होंने जो तत्व चिंतन किया वही मानव मात्र हेतु श्रेष्ठ हैं, सन्तों का समाज के प्रति दृष्टिकोण प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी रहा, सन्तों ने मानवता की भावना को आगे बढ़ाया तथा मानवों में आत्मविश्वास, सभी धर्मों का मुल केन्द्र ईश्वर को न बता मानव को सिद्ध किया। सन्त कवियों ने साहित्य के आदर्श को अपने समकालीन साहित्यकारों के समक्ष रखा, साहित्य (स + हित = सभी का हित) तथा सन्त (सात्विक प्रवृत्ति) दोनों का समान अर्थ रहा। इस दृष्टि से विचार किया जायें तो सन्त साहित्य हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन यात्रा में उच्चपद तथा प्रथम स्थान पर माना जाना चाहिए क्योंकि इसमें स्वान्तसुखाय की अपेक्षा परहितसुखाय तथा सामाजिक चेतना गहरी समाई हुई है। साहित्य समाज का दर्पण हैं इसी उक्ति को सन्त साहित्यकारों ने अपने साहित्य का केन्द्र बिन्दु बनाया। तथा तत्कालीन वातावरण और जनमानस की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु साहित्य का निर्माण किया। राजस्थान के सन्दर्भ में यदि सन्त काव्यधारा को दृष्टिगत

किया जाए तो राजस्थान में सन्त काव्य परम्परा का विकास 14वीं शताब्दी में माना जाता है इससे पूर्व ही उत्तर भारत में कमशः रामानन्द कबीर, रैदास, नानक, नामदेव, प्रभूति साधना का प्रचार कर चुके थे। इसी देशकाल में रामानन्द ने सन्त धन्ना, पीपा आदि को दीक्षित कर राजस्थान में सन्त परम्परा का बीजारोपण किया। राजस्थान की वीरभूमि में सन्तों ने आध्यात्मिक वातावरण का सृजन कर जनमानस को नैतिकबल एवं संरक्षण प्रदान किया जिससे देश के सामाजिक जीवन में

जागरूकता, धैर्य, एवं नीति को स्थैर्य प्रदान हुआ। इसी के संग एक ऐतिहासिक तथ्य यह रहा है कि मध्यकालीन सन्त काव्यधारा कारण राजस्थान में कबीर पन्थ, दादूपन्थ, नानकपंथ के साथ-साथ इतने संत सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ जितना कि भारतवर्ष के किसी भी प्रान्त में नहीं हुआ होगा। कुछ ऐसे सम्प्रदायों के नामों का राजस्थान में सन्तों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देखते हुए संक्षिप्त अवलोकन हेतु तालिका प्रस्तुत है।

क्र.स.	सम्प्रदाय का नाम	प्रवर्तक	समय	प्रधान स्थाल
1	विश्वनोई सम्प्रदाय	जाम्भोजी	वि.स. 1508-83	बीकानेर
2	जसनाथी सम्प्रदाय	जसनाथ जी	1539-63	बीकानेर
3	निरंजनी सम्प्रदाय	हरीदास	1597-	डीडवाना (नागौर)
4	लालपन्थ	लालदास	1601-	नगला (अलवर)
5	दादूपन्थ	दादू दयाल	1733-1815	नारायणा (जयपुर)
6	रामस्नेही (रेण शाखा)	दरियाव जी	1754	रैण (नागौर)
7	रामस्नेही (सीथल शाखा)	हरिदास जी	1754	सीथल (बीकानेर)
8	रामस्नेही (शाहपुरा शाखा)	रामचरण जी	1776	शाहपुरा (भीलवाडा)
9	खैँडापा शाखा	रामदास जी	1783	खैँडापा
10	चरणदासी सम्प्रदाय	चरणदास जी	1760	डेहरा (अलवर)
11	तेरापन्थी सम्प्रदाय	भीखण जी	1817	केलवा (मेवाड़)
12	जयहरी सम्प्रदाय	चारणदास जी	1822	रतनगढ़
13	अलखिया सम्प्रदाय	लालगिरि	1860	बीकानेर
14	गूदड़ सम्प्रदाय	सन्तदास	1822	दांतड़ा (मेवाड़)
15	भाव पंथ	मावाली	1776	सबला (डुंगरपुर)
16	आई पंथ	आईमाता जी	1472	बिलाडा (जोधपुर)
17	नवाल पंथ	नवलनाथ जी	1840	जोधपुर

दादू दयाल

राजस्थान के सन्त सम्प्रदायों में दादू सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है, लगभग 50 वर्षों से चलते आ रहे इस सम्प्रदाय की परम्परा वर्तमान विद्धमान है। इस सम्प्रदाय का मूल स्थान जयपुर (राजस्थान) रहा। जयपुर प्रान्त के अतिरिक्त मेवाड़, पंजाब, मालवा, गुजरात, उत्तरप्रदेश आदि में भी यह पन्थ पर्याप्त रूप से विकसित हुआ। दादू पन्थ के प्रवर्तक दादूदयाल पर पाश्चात्य-पौरात्य अनेकानेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है किन्तु इनके द्वारा भी वास्तविक सामाजिक योगदान का मूल्यांकन निष्पक्षरूपेण नहीं किया गया है। दादू का राजस्थान में महत्व इसी तथ्य से उजागर हो जाता है कि "दादू महाविद्यालय"-जयपुर उनके नाम पर स्थापित किया गया है। पर्यटन, निष्पक्षता, मानवतावाद, नैतिकता, मानवधर्म, ना हिन्दू ना मुसलमान आदि दादू के व्यक्तित्व की विशिष्टताएँ थीं। दादू साम्भर, आमेर, तथा नारायणा में रहे। संत दादू के जीवनकाल में ही दादू पन्थ का

राजस्थान में विशाल वटवृक्ष लहलहा उठा। कालान्तर में यह वट-वृक्ष अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया है। खालसा विरक्त, उत्तराधा, नागा आदि दादू पन्थ की कई शाखाएँ रही। दादू पन्थ के मुख्यतः 52 शिष्य हुए जिन्होंने दादूपन्थ का प्रचार किया। दादूपन्थी साहित्य में ब्रह्मा, माया, जीव जगत् भक्ति, नारी, आत्मा-मुक्ति आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मनिरूपण, आडम्बर विरोध, मूर्तिपूजा खण्डन, तीर्थटन, निर्गुण भक्ति, गुण-अवगुण निवेदन, नवधा भक्ति का आंशिक समर्थन, आदि के साथ प्रमुखतया सामाजिक भेदभाव निम्नवर्ग उद्धार वर्ग संघर्ष, सामाजिक उत्थान पर अपनी ओजस्वी वाणी प्रकट की है। साथ ही प्रमुख उपलब्धि यह भी मानी जानी चाहिए कि मध्ययुग के ऊहापोह में भी इन्होंने आध्यात्मिक वातावरण संग साहित्यिक वातावरण का सृजन किया।

भौतिकता के क्षयकारी झंझावतों ने अतीत के मनोरम उद्यानों को उखाड़ना प्रारम्भ कर दिया था परिवर्तन के इस युग में मानवता के मापदण्ड बदल रहे

है। आध्यात्मिकता का गन्धा स्वरूप दिखाई दे रहा था। संत साहित्य की सामाजिक चेतना में इस दादूपन्थ का बहुत बड़ा हाथ है। वर्तमान प्रस्तुत रिसर्च पत्र का मूल प्रश्न यह है कि हिन्दी साहित्य में यदि सूर, तुलसी, मीरां, कबीर की महत्ता स्वीकार की गई है तो दादूदयाल, रामानन्द, नामदेव, सुंदरदास, नानक की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए थी। दादू दयाल के जीवन-काल में ही अनेक गणमान्य हिन्दू तथा मुसलमान व्यक्ति उनसे गुरु-मंत्र प्राप्त कर उनके शिष्य बने। उनमें से निम्नलिखित दों सन्त कवि अत्यधिक प्रसिद्ध रहे एक था मुसलमान सन्त रज्जब तथा दूसरा था हिन्दू सन्त सुन्दरदास

सुन्दरदास

सुन्दरदास का जन्म जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी दौसा में खण्डेलवाल वैश्य परिवार में सती और परमानन्द के यहां हुआ। अल्पआयु में ही दादूदयाल के शिष्य बन उन्हीं के संग निवास करने लगे। दादू ने इनके रूप-सौन्दर्य प्रभाव से इन्हे सुन्दर नाम से अलंकृत किया। सुन्दरदास पर्यटनशील स्वभाव के रहे। राजस्थान, पंजाब, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, मालवा, बदरीनाथ जैसे नाना क्षेत्रों के भ्रमण से इन्होंने अपनी सामाजिक जागरूकता, बहुमुखीज्ञान, भाषा प्रयोग, वेदान्त, साहित्य, व्याकरण का उदाहरण प्रस्तुत किया। हिन्दी के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत, पंजाबी, गुजराती, मारवाड़ी तथा फारसी का भी अच्छा अभ्यास था! इनकी 42 रचनाओं में ज्ञानसमुन्द्र तथा सुन्दर विलास प्रसिद्ध रही। जिसमें अनुभव ज्ञान, तथा सामाजिकता का मर्मस्पर्शी चित्रण है। काव्यरीतियों से भली भांति परिचित रससिद्ध कवि थे इसी अर्थ से वे अन्य निर्गुणी सन्तों से पूर्णरूपेण भिन्न हैं।

शांतरस एवं दर्शन मर्मज्ञ सुन्दर काव्य शिल्पपक्ष की दृष्टि से तुलसी, नन्द, सूर, के समकक्ष माने जाएं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वेदांत विधा भक्तिमय ज्ञान को समधुर, सरल, उच्चकाव्य में नानाविध रूपेणबद्ध करने एवं अद्वैतबह्मविधा का प्रचार करने के कारण यदि इन्हे राजस्थान का शंकराचार्य अथवा द्वितीय शंकराचार्य कहना अनौचित्यपूर्ण नहीं है। पथभ्रष्ट समाज को सद्गति-अग्रसर करना, विश्वकल्याण हेतु मानवधर्म -बन्धुत्वभाव का प्रवर्तन करना, मानवीय मूल्यों संग जनसुखाय को काव्य प्रयोजन बनाना एवं सिद्ध करना इनके मुख्य योगदान रहे। भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि रहे। वे निर्गुण भक्त कवियों में सबसे अधिक शास्त्र निष्णात और सुरक्षित सन्त कवि थे! शास्त्रज्ञानसम्पन्न-काव्यकला निपुण सुन्दरदास का सन्त काव्यधारा में विशिष्ट स्थान है। कलापक्ष में वे कबीर से भी महत्वपूर्ण रहे। लोकधर्म का निर्वाह इनका काव्य का प्रमुख मत रहा है।

एक उदाहरण दुष्टिगत है:-

“बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय, ना तौ मुख

मौन गहि चुप होय रहिए।

जोरिए तौ तब जब जौरिबे की रीति जानै: तुक छंद अरथ

अनूप जामे रहिए।

गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय, श्रवन के सुनतहीं

मनै जाय गहिए।

तुकभंग, छंदभंग, अरथ मियै न कछु, सुंदर कहत ऐसी
वाणी नहीं कहिए।

रज्जब

दादूदयाल के विषिष्ट 52 शिष्यों में रज्जब का नामोउलेख मिलता है। जीवनभर दूल्हे के वेश में रहने वाले रज्जब का पूरा नाम रज्जब अली खां था। जाति से पठान और सांगानेर जन्मे रज्जब जब 20 वर्ष आयु में विवाह हेतु आमेर आये तब उनका साक्षात्कार दादू से हुआ। दादू उन्हे देखकर बहुत प्रसन्न हुए और दादू के मुख से स्वतः ही यह निकला। “आया था कुछ काज को सेवा सुमिरण साज। दादू भूल्या बंदगी, सदया न एको काज। “ दादू ये शब्द सुनते ही रज्जब को वैराग्य हो गया। परिणामतः उन्होंने विवाह नहीं किया। रज्जब उच्चकोटि के सन्त होने के साथ-साथ बड़े प्रतिभावाण सिद्ध हुए। ये बड़े तेजस्वी, प्रवीण, ज्ञानी, यति तथा अच्छे कथावाचक थे। रज्जब की दो काव्यकृतियाँ प्रसिद्ध रही- रज्जब बानी, सर्वगी।

रज्जब दादूदयाल के देहावसान तक ही उनके शिष्य होकर नहीं रहे अपितु उसके बाद भी अपने जीवन के शेष 23 वर्षों को एक फकीर के रूप में दादू दरबार में व्यतीत किये। रज्जब की मृत्युपरान्त इनकी प्रसिद्ध गद्दी सांगानेर में रही। जहाँ आज भी उनके स्मारक रूप में इनकी कुछ वस्तुएँ रखी गयी है। 1626 में नारायणा में ही रज्जब ने शरीर त्यागा। हिन्दू-मुस्लिम को समदृष्टि से देखते हुए रज्जब ने अपने साखी-पदों में दोनों की एकता, सामाजिक जागरूकता हेतु उपदेश दिये।

रज्जब के शिष्यों को रज्जबात अथवा
रज्जबपन्थी कहा जाता है।

धन्ना

धन्नाजी का जन्म 1419 ई. में एक जाट परिवार में धुंआकला (टोंक) में हुआ था। बाल्यकाल से धन्ना का झुकाव भागवत भक्ति की ओर अधिक था। अतः एक दिन ये घर-बार छोड़कर बनारस चले गए और वहाँ स्वामी रामानन्द जी के शिष्य बन गए। परमात्मा में उनकी पूर्ण आस्था थी, परन्तु वह ईश्वर प्राप्ति के लिए गुरु आवश्यक समझते थे। गुरु महत्व को समझते हुए उन्होंने कहा है “जगत में ईश्वर का मार्ग-दर्शन मेरा गुरु है और जब मैं अपने गुरु की शिक्षा और आदर्शों पर मनन करता हूँ तो हृदय को बड़ी शान्ति मिलती है।” ईश्वर प्राप्ति आन्तरिक जिज्ञासा और त्याग से होती है। उनका अनुभव था कि प्रेम और मनन से ईश्वर का सानिध्य पाया जा सकता है। राजस्थान के धार्मिक जीवन को नया मोड़ देने में प्रथम योगदान धन्ना का ही है। उनके उपदेशों का सारांश इस प्रकार है- 1. ईश्वर में दृढ आस्था 2. बाह्याडम्बरों का विरोध 3. जातीय का खण्डन 4. गुरु में अटूट निष्ठा, 5. गृहस्थाश्रमी भक्ति में आस्था। संत धन्ना द्वारा रचित ‘आरती’ से निष्काम कर्मयोग के अनुरूप कार्य करते रहने का भी पता चलता है।

संत पीपा

संत पीपा गागरौन (झालावाड़) के खींची राजपूत थे उनका जन्म 1425 ई. में हुआ उनके बचपन का नाम प्रताप सिंह था। 25 वर्ष की आयु में राज्य की बागडोर संभालते हुए उन्होंने धर्मनिष्ठा, प्रजापालक और दानवीर के

रूप में विषेय ख्याति प्राप्त की और दिल्ली सुल्तान फिरोजशाह तुगलक के आक्रमण को विफल किया। कुलदेवी माता की कृपा और छोटी रानी सीता की प्रेरणा से वैराग्य की ओर उन्मुख हुए तथा राज त्याग कर छोटी रानी सीता के साथ उन्होंने भक्तिकालीन विख्यात संत रामानन्द शिष्यत्व धारण किया। उन्हें गुरु रामानन्द का शिष्यत्व धारण किया। उन्हें गुरु रामानन्द भारतीय संस्कृति को बचाने, पीड़ित मानवता की रक्षा करने की शिक्षा दी साथ ही आदेश दिया कि भू-भाग पर विचरण करते हुए तू लोकहितार्थ प्रेमरस 'पी' और दूसरों को भी 'पा' (पिला)। इस प्रकार राजा प्रताप सिंह 'संत पीपाजी' कहलाने लगे। एक अन्य मत यह है कि वे संत रामानन्द के पास जब बनारस गए तब साथ में पीपा लेकर गए थे इसलिए उनका नाम संत पीपाजी पड़ा। अपने गुरु के निर्देश पर उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग में अहिंसा, जीवरक्षा व ईश्वर-भक्ति का पाठ पढ़ाते हुए प्रेम, दया, सदाचार, एवं अपरिग्रह युक्त समाज की संरचना में अपना जीवन लगा दिया। उनके उपदेशों में प्रमुख है 1. ईश्वर में पूर्ण आस्था, 2. ईश्वर की भक्ति तथा गुरु की गरिमा पर बल दिया, 3. सत्संग पर बल, 4. जाति-पांति का खण्डन, 5. मूर्ति-पूजा के प्रति अविश्वास 6. तीर्थ यात्रा में अनास्था, 7. नाम-स्मरण की महत्ता। उन्होंने नाम-स्मरण को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया, 8 मूर्तिपूजा, ब्राह्म आडम्बरों, सती प्रथा तथा ऊँच-नीच का विरोध किया। वे निर्गुण भक्ति की विचार धारा के भक्ति कालीन संत थे जिन्हें राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी भाग में धार्मिक जागरण एवं पुनरुत्थान का श्रेय दिया जाता है गुरु ग्रन्थ साहिब में धन्ना और पीपा की वाणी भी है पीपाजी के लिए भाई-अनन्तानंद जी ने पीपा परिचर्च लिखी। बाड़मेर जिले के समदड़ी ग्राम में पीपाजी का भव्य मंदिर है। यहाँ उनके अनुयायी वर्ग 'पीपा पंथ' दर्जी समाज का प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को विशाल मेला आयोजित होता है।

जांभोजी

इनका जन्म संवत् 1508 ई. में नागौर जिले के 'पीपासर' ग्राम में हुआ था। इनकी माता का नाम हंसा देवी तथा पिता का नाम लोहट था। इनका परिवार सम्पन्न था। ये अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र थे। ये जाति से पंवार वंशीय राजपूत थे। जांभोजी बाल्यावस्था से ही मननशील थे तथा कम बोलते थे। माता-पिता के देहांत के बाद इन्होंने घर सम्पत्ति का परित्याग कर दिया और 'सम्भराथल' (बीकानेर) स्थान पर रहकर सत्संग व हरिचर्चा में लीन हो गए। सम्भराथल में रहकर के प्रचार-प्रसार एवं सामाजिक तथा धार्मिक विषमताओं को दूर करने में लगे रहे। 1536 ई. देहान्त होने पर ये 'तालवा' (बीकानेर) गांव में समाधिस्थ हुए। यह स्थान 'मुकाम' कहलाता है, जहाँ इनका समाधि मंदिर बना हुआ है। इस स्थान पर प्रतिवर्ष फाल्गुन अमावस्या को मेला भरता है। हिन्दू-मुसलमान सभी इस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। जांभोजी ने बीस व नौ धर्म नियम निर्धारित किए इसलिए यह मत 'विश्वोई' मत कहलाया। प्रमुख नियम इस प्रकार हैं-

1. प्रातः काल स्नान करना चाहिए।
2. सदैव शील, सन्तोष आदि का पालन करना चाहिए।

3. दोनो काल सन्ध्या करनी चाहिए।
4. सायं काल ईश्वर की आरती तथा भजन करना चाहिए।
5. हवन करना चाहिए।
6. सत्य बोलना चाहिए।
7. जल व दूध को छानकर पीना चाहिए।
8. निन्दा व अपमान सहते हुए भी धर्म का पालन करना चाहिए।
9. जीवों पर दया करनी चाहिए।
10. चोरी नहीं करनी चाहिए।
11. किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए।
12. अमावस्या के दिन उपवास रखना चाहिए।
13. विष्णु की नित्य सेवा करनी चाहिए।
14. हरे वृक्ष को कभी नही काटना चाहिए।
15. काम, क्रोध, लोभ, आदि का दमन करना चाहिए।
16. परोपकार से पशुओं की रक्षा करनी चाहिए।
17. अफीम नहीं खाना चाहिए।
18. मद्य-पान नहीं करना चाहिए।
19. मांस भक्षण नहीं करना चाहिए।
20. नीला वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त धार्मिक नियमों से स्पष्ट होता है कि जांभोजी वैदिक धर्म से भी प्रभावित थे और साथ ही जैन धर्म से भी प्रभावित थे। इसके अलावा उन्होंने अपने मत में ऐसे सिद्धान्त निर्धारित किए जो जन-साधारण के दैनिक जीवन से भी सम्बन्धित थे। उनके विचार समन्वयात्मक भी थे। इस कारण हिन्दू व मुसलमानों में एकता स्थापित करने की दृष्टि से उन्होंने बाद में कुछ नियम और बढ़ाए जो हिन्दू व मुसलमानों में सामंजस्य उत्पन्न करने वाले माने जा सकते हैं। वे नियम हैं- 1. मरने पर शव गाड़ना 2. सिर मुंडाना 3. मुँह पर दाढ़ी रखना। उनके इन विचारों का परिणाम यह हुआ कि राजस्थान में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य कम होने लगा। उन्होंने भी हिन्दू व मुसलमान दोनों को ही अन्ध-विश्वासों पर फटकारा।

सिद्ध जसनाथ

जसनाथजी संवत् 1539 (1482 ई.) में बीकानेर के ग्राम कतरियासर ग्राम में जाट परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम हमीर व माता का नाम रूपादे था। जसनाथ जी आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इन्हें संवत् 1551 में अश्विन शुक्ला सप्तमी को ज्ञान प्राप्त हुआ था। ये नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि इन्होंने अपनी वीणा में जगह-जगह गोरखनाथ को बड़ी श्रद्धा से गुरु के रूप में स्मरण किया है। आपकी जांभोजी से मुलाकात वि. स. 1557 में हुई थी। इनके समय तक लकलीश शैव धर्म भी नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही हो गया था। अतः जसनाथ जी में अपना विश्वास व्यक्त करते हैं। जसनाथ जी भक्ति की अपेक्षा योग पर अधिक बल देते थे। 24 वर्ष की आयु में वह समाधिस्थ हुए। जसनाथी सम्प्रदाय के अन्तर्गत पशु-हिंसा का विरोध किया गया है। संसार की नश्वरता पर भी आपकी वाणी में पर्याप्त लिखा मिलता है। जांभोजी की भांति जसनाथ जी ने अपने उपदेशों को मुख्यतः 36 नियमों के अन्तर्गत सूचीबद्ध कर एक नवीन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जो जसनाथी सम्प्रदाय कहलाता है। इसके अनुयायी प्रायः कृषक वर्ग विशेषतः जाट वर्ग के अधिक

है। इस सम्प्रदाय के नियमों का जसनाथ जी के एक 'सबद' में परिचय मिलता है। इनमें से प्रमुख नियम इस प्रकार हैं। उत्तम कार्य करना, जीव हिंसा न करना, स्नान के बाद ही भोजन करना, स्वेच्छापूर्वक अच्छे केश धारण करना, ईश्वर चिन्ता करना, एक ईश्वर में विश्वास करना, शौच, शील और संतोष का पालन करना, हवन करना, झूठे मुख से अग्नि में फूंक न देना, दूध व पानी को वस्त्र से छानकर पीना, कन्या का द्रव्य न लेना तथा कन्या विक्रय न करना, स्वधर्म का पालन करना, मन, वचन कर्म से निंदा का परित्याग, भूमि में समाधि लेना, अतिथि सत्कार करना, सहिष्णु और क्षमाशील बनना एवं नशीले पदार्थों का सेवन न करना इत्यादि। कतरियासर ही जसनाथजी का मुख्य साधना तथा पूज्य स्थान है यहां वर्ष में तीन बार-अश्विन शुक्ल सप्तमी, माघ शुक्ल सप्तमी और चैत्र शुक्ल सप्तमी को विराट मेला लगा करते हैं।

कृष्ण दास पयहारी

कृष्णदास दाहिमा ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। वे मूलतः गुजरात के थे। वे जयपुर के सुप्रसिद्ध गालिब ऋषि के तीर्थ स्थान गलता के महन्त थे आहार के रूप में केवल दूध का ही सेवन करने से आप 'पयहारी' विरुद्ध से जाने जाते हैं। 'गलता की गद्दी' आपको अपनी विद्वत्ता के कारण मिली थी। इनसे पूर्व यह नाथ सम्प्रदाय की पीठ थी। कहा जाता है कि आपने महाराजा पृथ्वीराज के गुरु चतुरनाथ को शास्त्रार्थ में परास्त किया। चतुरनाथ कापालिक सम्प्रदाय के थे, कृष्णदास रामानुज सम्प्रदाय के थे और परम वैष्णव थे। ब्रज भाषा में अपनी रचनाएं रचते। आपकी रचनाओं में 'जुगलमैन चरित्र' 'ब्रह्मगीता' और 'प्रेमतत्व निरूपता' अधिक उल्लेखनीय है। इनके अपने शिष्य थे। उनमें अग्रदास प्रधान थे। वे राम के अनन्य भक्त थे।

हमारे सन्तों का सबसे बड़ा प्रदेय यह रहा कि धर्म और रूढ़ि के नाम पर जो भ्रम वहम या गलत धारणाएँ फैली हुई थी उसे इन सन्तों ने अपनी ज्ञानवाणी के द्वारा समाप्त करने का कार्य किया सम्भवतः सन्त काव्यधारा के इन ज्ञानमार्गी सन्त कवियों का हिन्दी साहित्य तथा भारतवर्ष को यह महानतम् योगदान ही रहा है।

वियोगी हरि के शब्दों में सन्त काव्यधारा के सन्त कवियों के योगदान पर इस टिप्पणी से उनके कालजयी महत्व को समझा जा सकता है कि "जब देश में धर्म-अधर्म के लड़ाई-झगड़े बढ़ गये, तब इन सन्तों ने अनेक रूपों में अवतार लेकर धर्म का मूल ढूँढ लिया और सर्वजन साधारण को इस रहस्य से अवगत करा दिया। सन्तों ने सबका भला करने हेतु समन्वयकारी प्रवृत्ति का सहारा ग्रहण किया। सन्त में कोई श्रेष्ठता हो या न हो उसका प्रथम लक्ष्य उसकी निस्पृष्टता है वे निर्भय हैं। इसीलिए इन सन्तों ने धर्मग्राही और उच्चवर्ग पर भी तीव्र प्रहार करते समय संकोच तनिक भी न किया।"

अध्ययन का उद्देश्य

मध्यकालीन सन्तों के काव्यों में सामाजिक चेतना का अध्ययन करने से प्रमुख तथ्य सामने आते हैं, प्रथम तो इनका प्रमुख कार्य क्षेत्र (राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश) उत्तर,पश्चिम रहा है। दूसरा इन कवियों का प्रमुख कार्य सामाजिक जागरूकता फैलाकर दलित उत्थान करना रहा है, इन्होंने समाज को सुधारित करके आदर्श की स्थिति तक पहुँचाने का कार्य किया।

निष्कर्षत

कहा जाइें तो ये हिन्दी की प्रथम सुधारवादी-प्रयोगवादी, प्रगतिवादी-समाजवादी तथा समस्या-समाधानवादी काव्यधारा रही जो भारतीय इतिहास 1857 ई0 की क्रान्ति से पूर्व प्रथम जनजागरण वाला भव्य व्यापक आन्दोलन रूप में भी संज्ञित की जा सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजस्थानी पिंगल साहित्य :- मोतीलाल मेनारिया
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. नाथसिद्धों की बाणियां :- हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. उत्तरी भारत की संत परम्परा :- परशुराम चतुर्वेदी
5. दादूदयाल :- परशुराम चतुर्वेदी
6. साहित्यिक निबन्ध :- डॉ. रेणु वर्मा
7. योग प्रवाह :- डॉ. पिताम्बर दत्त बड़थवाल
8. राजस्थान का इतिहास एवं संस्कृति :- सुधा गोस्वामी
9. राजस्थान का इतिहास एवं संस्कृति :- राजेन्द्र सिंह चौधरी